# जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त : जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

**१. कर्मवाद की तीन धाराएं :**

भारतीय चिंतकों ने अपने चिंतन का जो विशाल भवन निर्मित किया है, उसका स्वर्ण कलश यदि मुक्ति है तो उसकी आधार–शिला कर्मवाद या जन्मान्तर। कर्मवाद का विश्लेषण भारतीय विचारधारा में मुख्यतया तीन तरह से हुआ है। एक तो उन अनीश्वरवादियों—जैन, बौद्ध और मीमांसक–के द्वारा जो कर्म को इतना शक्तिशाली मानते हैं कि उसके लिए किसी नियन्ता की जरूरत नहीं होती। दूसरे उन ईश्वर-वादियों—विशिष्टा द्वैत, शैव–द्वारा जो एक ऐसे कर्माध्यक्ष या ईश्वर को मानते हैं जो जीव को यथोचित फल देता है। और तीसरे वे अद्वैतवेदान्ती एवं सांख्य हैं जो कर्म की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। अविद्या के नष्ट होते ही कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इनमें मतभेद अवश्य हैं, किन्तु यदि सब के मूल में हम जायें तो इतना सब मानते हैं कि किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, चाहे वे अच्छे हों या बुरे।

जैन दर्शन में कर्म-विज्ञान पर बहुत गम्भीर, विशद, वैज्ञानिक चिन्तना की गई है। कर्मों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। जीवन के समस्त अंगों का विश्लेषण कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादन करना जैनों की अपनी मौलिक शोध है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त अपने आप में इतना शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र है कि जीवों को कर्मफल देने में उसे किसी नियंता आदि की आवश्यकता नहीं होती। अचेतन का यह चेतन पर शासन है। एकदम चौंका देने वाली बात? लेकिन जब हम इस कर्मवाद की गहराई तक पहुंचते हैं तो आश्चर्य होता है उन जैन मनीषियों की बुद्धि पर जिन्होंने कितने सरल और वैज्ञानिक ढंग से जीवन को सारी गुत्थियां सुलझाकर रख दी हैं।

**जैन दर्शन में कर्मवाद :**

जैन-दर्शन में कर्मवाद कैसे प्रारम्भ हुआ और कब से इन दो प्रश्नों को, कर्म-सिद्धान्त क्या है इसके विवेचन के पूर्व, समाधित कर लेना चाहिए। विश्व की विविधता पर चिंतन करते हुए प्राय: प्रत्येक दर्शन ने उसके कारणों की खोज की। लेकिन यह कोई सरल कार्य नहीं था। जीवन का प्रारम्भ कब और क्यों हुआ यह कह पाना कठिन था। कब तो अभी तक अनुत्तरित है और क्यों को ईश्वर की इच्छा से जोड़ दिया गया। अतः विश्व का विविध रूपों में परिवर्तन सब ईश्वर की कृपा है, इच्छा है। उस महान की इच्छा पूर्ति करने के हम केवल माध्यम हैं। प्राय: इसी तरह की मान्यताओं ने अन्य दर्शनों को विश्राम दे दिया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन जैन-दर्शन को यह दुहरी परिकल्पना कोई दिशा न दे सकी। उसने इस चिन्तन-प्रक्रिया को और गति दी। चिन्तन की गहराई ने मान्यताओं के व्यामोह को भंग किया। इन चार अवस्थाओं को प्रतिपादित किया —

१. विश्व के मूल में दो तत्व हैं—जीव और अजीव।

२. इन चेतन और अचेतन का सम्बन्ध जीव को नाना प्रकार को दशाओं में परिवर्तित करता है। यही विश्व की विविधता है।

३. उक्त जीव-अजीव के सम्पर्क को रोकने और सर्वथा नष्ट करने की शक्ति जीव में विद्यमान है।

४. तथा सम्पर्क नष्ट होते ही जीव पुनः विशुद्ध एवं निर्मल हो जाता है। यही मुक्ति है।

उक्त चार अवस्थाओं के प्रतिपादन से जैन-दर्शन के निम्न चार सिद्धान्त प्रतिफलित होते हैं—

१. तत्वज्ञान निरूपण : सृष्टि का विश्लेषण।
२. कर्म-सिद्धान्त : जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।
३. जैनाचार : संयम एवं तपसाधना।
४. मुक्ति : जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि।

जैन-दर्शन ने इन चारों सिद्धान्तों की व्याख्या सात तत्वों के निरूपण द्वारा की है। प्रथम सिद्धान्त का सम्बन्ध जीव और अजीव से है। द्वितीय का आश्रव एवं बन्ध से। तृतीय का मूलाधार संवर तथा निर्जरा हैं एवं मोक्ष का सम्बन्ध अन्तिम सिद्धान्त से है।

यहां हमें द्वितीय सिद्धान्त कर्मवाद के अन्तर्गत आश्रव एवं बन्ध तत्वों पर विचार करना है और यह देखना है कि आधुनिक मनोविज्ञान को कितने सूक्ष्म ढंग से जैन मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व हृदयंगम कर रखा था।

**जीव के साथ कर्मों का सम्पर्क :**

दो बातें यहां जानना जरूरी है। प्रथम यह कि कर्मों का जीव तक पहुँचने के साधन क्या हैं एवं जीव के समक्ष पहुँचने पर कर्म उससे अपना सम्बन्ध कैसे स्थापित करते हैं? साधनों पर विचार जैन-दर्शन में 'आश्रव' तत्व के निरुपण द्वारा किया गया है।

जीव और कर्मों का बन्ध तभी सम्भव है जब जीव में कर्म पुद्गलों का आगमन हो। अतः कर्मों के आने के द्वार को 'आश्रव' कहते हैं। वह द्वार जीव की ही एक शक्ति है जिसे योग कहते हैं। हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सब कर्मों के आने में कारण है। इस मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहा गया है। अतः स्पष्ट है, हमारा मन एवं पांचों इंद्रियां ही कर्मों के आगमन में प्रमुख कारण हैं। इन छहों की क्रियाओं (कर्म) द्वारा आत्मा का पुद्गल परमाणुओं से सम्पर्क होता है इसलिए इस सम्पर्क को 'कर्म' कहा गया है।

आत्मा के साथ कर्म-सम्पर्क होने में मन का विशेष हाथ है। जीवन के सभी कार्य-व्यापार, चिंतन, मनन, इच्छा, स्नेह, घृणा आदि सभी कुछ मन के ऊपर ही निर्भर है। पांचों इंद्रियों पर इसी का शासन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः आत्मा का विकास एवं पतन इसी मन पर ही आश्रित है। जैन-दर्शन में जहां मन को चंचल और दुर्जय कहा गया वहां उसको वश में करने की दिशा भी प्रदान की गई है। संयम एवं ध्यान की एकाग्रता मन को स्थिर करती है। मन के निग्रह से पांचों इंद्रियां वश में हो जाती हैं और इन छहों पर विजय प्राप्त कर लेने से सारी विषय-वासना अपने आप तिरोहित हो जाती है। जीवन में एक सन्तुलित गतिशीलता आ जाती है। अतः कर्म बन्धन में मन प्रधान कारण है।

उपरोक्त साधनों से कर्म परमाणु आत्मा के समक्ष दो तरह से आते हैं और उसमें मिल जाते हैं। प्रथम काय आदि योगों की साधारण क्रियाओं के द्वारा और दूसरे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायों के वेग से प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार के कर्माश्रव को मार्गगामी कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा और कर्म प्रदेशों का कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नहीं होता। कर्म-परमाणु आते हैं और चले जाते हैं। जिस प्रकार किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र झड़ जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नहीं रहती। इस प्रकार का कर्माश्रव समस्त संसारी जीवों के निरन्तर हुआ करता है। क्योंकि उनके किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक व वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु इसका कोई विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पड़ता।

परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएँ कषायों से युक्त होती हैं, तब आत्म-प्रदेशों में एक ऐसी परपदार्थ ग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाले कर्म परमाणु उससे शीघ्र पृथक नहीं होते। यथार्थतः क्रोधादि विचारों की इसी शक्ति के कारण उन्हें कषाय कहा गया है। सामान्यतः वह वृक्ष के दूध के समान चेप वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योंकि उनमें चिपकने की शक्ति होती है। उसी प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव में कर्म परमाणुओं का आश्लेष कराने में कारणी भूत होने के कारण कषाय कहलाते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो जिन मनोविचारों से आत्मा कलुषित हो जाय एव मन में विकार पैदा हो जाय उन्हें कषाय कहते हैं। इस सकषाय अवस्था में उत्पन्न हुआ कर्माश्रव अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये बिना आत्मा से पृथक नहीं होता। अतः कषाययुक्त कर्मों का ही हमें फल भुगतना पड़ता है।

**कर्म सम्बन्ध अनादि :**

स्वभावतः यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि कर्म-परमाणु अचेतन हैं और आत्मा सचेतन। तब चेतन-अचेतन का परस्पर मेल कैसे होता है और किस प्रकार का होता है ?

अन्य दर्शनों की तरह जैन-दर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है। यह मानकर चलना आवश्यक भी है। क्योंकि यदि यह मानकर चलें कि सर्वथा शुद्ध आत्मा (जीव) के साथ कर्मों का बन्ध होता है तो कई विवाद उठ खड़े होते हैं। प्रथम यह कि सर्वथा शुद्ध जीव के कर्म बन्ध कैसे सम्भव है ? और यदि सर्वथा शुद्ध जीव भी कर्मबन्धन में पड़ सकता है तो मुक्ति का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है ? मुक्त जीव भी तब कर्मों का कभी बंध कर सकते हैं।

जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि मान लेने से उपर्युक्त प्रश्नों की गुंजाइश नहीं रहती। जीव जब तक संसार में रहता है किंचित राग-द्वेष परिणामों से हमेशा लिप्त रहता है, फिर भी उसकी सचेतनता में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई फरक नहीं पड़ता । जैसे ताजे दूध में पानी का अंश विद्यमान होने पर भी वह दूध ही कहलाता है । जीव के यही किंचित राग द्वेष रूप परिणाम नये कर्म बांधते हैं । अर्थात् जीव की सचेतनता में जो अचेतनता के अंश हैं, वही नये कर्मों का आह्वान करते हैं । इन कर्मों से नाना गतियों में जीव जन्म लेता है । जन्म लेने से संसारी पदार्थों के प्रति फिर उसके राग और द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे फिर कर्म बंधते हैं । इस प्रकार राग-द्वेष भाव और कर्म एक दूसरे के जन्म दाता हैं । इसी क्रम का नाम संसार-चक्र है ।

जहां तक आत्मा और कर्म-परमाणुओं के संयोग के स्वरूप की बात है, उसका कोई निश्चित रूप-विधान नहीं किया जा सकता । जीव और कर्म-परमाणुओं का संबंध यद्यपि संयोग-पूर्वक होता है, किन्तु वह संयोग से एक जुडी वस्तु है । संयोग तो मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक का भी है, किन्तु उसे बन्ध नहीं कह सकते । बन्ध तो एक ऐसा मिश्रण है जिसमें रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है । उसमें मिलने वाले दो तत्व अपनी असली हालत को छोड़कर एक तीसरे रूप में बदल जाते हैं । जैसे दूध और पानी की मिलावट न तो दूध को दूध रहने देती और न पानी को पानी । दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालकर परस्पर घुल जाते हैं । जीव और कर्म बंधन की भी यही अवस्था होती है ।

जैन-दर्शन आत्मा और कर्मों के बन्ध का निरूपण करके ही चुप नहीं हो जाता बल्कि कर्म कितने प्रकार के हैं, किन क्रियाओं से कौन से कर्म बंधते हैं, यह बन्धन कब तक रहता है, कैसे फल देता है, किस प्रकार घटता-बढ़ता है तथा किन प्रयत्नों द्वारा सर्वथा नष्ट होता है आदि समस्त सम्बन्धित प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार करता है । इस प्रकार का विषय-निरूपण सचमुच, जैन-दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है ।

**कर्मों के भेद :**

जैन-दर्शन के कर्मों के भेद को कर्म प्रकृतियों के नाम से उपस्थित किया गया है । प्रकृति का अर्थ है स्वभाव । अर्थात् कर्म कितने स्वभाव वाले होते हैं । कुछ कर्मों का स्वभाव ज्ञान को ढांकना होता हैं, किन्हीं का दर्शन को । इस प्रकार की कर्मों की मूल आठ प्रकृतियां हैं–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र । इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेद रूप विविध उत्तर प्रकृतियां भी हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता । जिस प्रकार वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा आत्मा धूमिल हो जाती है । दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है । मोहनीय कर्म जीव के जीव की रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है । अन्तराय कर्म जीव द्वारा दान देने, लाभ लेने, वस्तुओं का भोग करने, उनसे सुख लेने एवं सामर्थ्य के प्रयोग करने में बाधा उत्पन्न करता है । वेदनीय कर्म प्राप्त वस्तुओं से फलित सुख-दुख का अनुभव कराता है । आयु कर्म जीव की देव, नरक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतियों की स्थिति का निर्धारण करता है । गोत्र-कर्म जीव को नीचगोत्र या उच्चगोत्र में ले जाता है । नाम कर्म जीव का शारीरिक-निर्माण करता है । किसी को सुन्दर व कुरूप बनाना इसी के हाथ में है ।

Jain Education International　　　　For Private & Personal Use Only　　　　www.jainelibrary.org

**कर्म-बन्ध के कारण :**

सामान्य रूप से कर्म बन्ध का कारण जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां हैं। किन्तु कौन-सी कषायात्मक प्रवृत्तियां किन कर्म-प्रवृत्तियों को बांधती है, जैन-दर्शन इसका भी सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करता है।

किसी के ज्ञानार्जन में बाधा उपस्थित करना, उसके ज्ञान में दूषण लगाना आदि कुटिल वृत्तियां ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति का बंध करती हैं। इसी प्रकार किसी के सम्यकदर्शन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करने से दर्शनावरणीय कर्म बंधता है। सज्जन पुरुषों की निंदा एवं उनके प्रति क्रोधादि कषायों के तीव्र भाव उत्पन्न करने से मोहनीय तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं शक्ति जीवन की इन सामान्य प्रवृत्तियों में विघ्न उपस्थित करने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। स्वयं या दूसरे को दुःख, शोक, बध आदि रूप पीड़ा देने से असाता वेदनीय एवं जीवों के प्रति दया भाव, अनुकम्पा आदि करने से सातावेदनीय कर्म बंधता है। इसी असाता और साता वेदनीय कर्मों के अनुसार पाप-एवं पुण्य की स्थति होती है। यद्यपि कर्मों का बन्ध दोनों से होता है।

सांसारिक कार्यों में अति आसक्ति अति परिग्रह नरकायु का, मायाचार तिर्यञ्च आयु का, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह व स्वभाव की मृदुता मनुष्य आयु का तथा संयम व तप देवायु का बंध कराते हैं। परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा आदि नीचगोत्र के, तथा इनसे विपरीत प्रवृत्तियां एवं मान का अभाव और विनय आदि उच्च गोत्र-बन्धन के कारण हैं। मन-वचन-काय योगों की वक्रता एवं कुत्सित क्रियाएँ आदि अशुभ नाम कर्म का बन्ध कर जीव को कुरूप बनाती हैं तथा इससे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म का बंध कर जीव को सुन्दर तथा तीर्थंकर बनने की भी क्षमता प्रदान करता है।

**कर्मों की स्थिति एवं शक्ति :**

इस प्रकार नाना प्रकार की क्रियाओं द्वारा जब विविध कर्म-प्रकृतियां बंध को प्राप्त होती हैं तभी उनमें जीव के कषायों की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वह बंध कितने काल तक सत्ता में रहेगा और फिर अपना फल देकर झड़ जायगा। पारभाषिक शब्दावली में इसे कर्मों का स्थिति बन्ध कहा है। यह स्थिति जीवों के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। कर्मों का स्थिति-बंध होने के साथ उनमें तीव्र व मन्द फलदायिनि शक्ति भी उत्पन्न होती है। इसी के अनुसार कर्म फल देते हैं।

**कर्मों का फल :**

कर्म किस प्रकार फल देते हैं, कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन के समय, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। अन्य दर्शनों में तो जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र और उसका फल भोगने में परतन्त्र माना गया है। ईश्वर ही सब को अच्छे-बुरे कर्मों का फल देता है।

किन्तु जैन-दर्शन का कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। उसके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है। जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्म-परमाणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बंध जाते हैं, उन कर्म परमाणुओं में शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है, जो चैतन्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है। और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक व दुख:दायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बाद में उनका फल भी अच्छा होता है। तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में उनका फल भी बुरा ही होता है। अतः स्पष्ट है कि हमारे भावों का असर कर्म-परमाणुओं पर पड़ता है। उसी के अनुसार उनका अच्छा-बुरा विपाक होता है। इस प्रकार जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्मफल के भोगने में भी।

**कर्मों में परिवर्तन :**

यहां अब यह जिज्ञासा होती है कि जब कर्म निरन्तर बंधते और फल देते रहते हैं तो उन्हें हमेशा एक-सा ही होना चाहिए या तो अच्छा या बुरा। तब फिर कोई बुरे कर्मों को बांधने वाला जीव अच्छे कर्मों को किस प्रकार बांधेगा ? जैन-दर्शन ने इन तमाम जिज्ञासाओं को भी समाधित किया है।

उक्त विवेचन में हमने देखा कि कर्म-परमाणुओं को जीव तक लाने का काम जीव की योग शक्ति करती है और उसके साथ बन्ध कराने का काम कषाय अर्थात् जीव के राग-द्वेष भाव करते हैं। इस तरह कर्मों में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्या का कमती-बढ़ती होना योग पर निर्भर है। तथा कर्मों में जीव के साथ कम या अधिक काल तक ठहरने की शक्ति का पड़ना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति का पड़ना कषाय पर निर्भर है। अब जैसा जिसका योग (मन-वचन-काय की क्रियाएं) होगा और जैसी जिसकी कषाय (राग-द्वेष) होगी, वैसे ही उसके कर्म बंधेंगे और वैसा ही उनका फल होगा।

जैन-दर्शन में कर्मों की दस मुख्य क्रियाओं का प्रतिपादन किया गया है। कर्मों का बंध होना, उनके ठहरने एवं फल देने की शक्ति का बढ़ना, घटना, स्थित रहना, निश्चित समय में फल देना, समय से पूर्व फल देना, परस्पर सजातीय कर्मों में मिल जाना, फल देने की शक्ति को रोक देना, कर्म को घटने-बढ़ने न देना आदि। कर्मों की इन क्रियाओं से स्पष्ट है कि बुरे कर्मों का बन्ध करने वाला जीव यदि अच्छे कर्म करने लग जाता है तो उसके पहले बांधे हुए बुरे कर्मों की स्थिति और फल दान-शक्ति अच्छे भावों के प्रभाव से घट जाती है। और अगर बुरे कर्मों का बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं तथा वह अधिक बुरे कर्म करने लग जाता है तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बांधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-दान-शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देर में। किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। अतः कर्म फल के भोग में समय की विषमता, तीव्रता, मन्दता आदि सभी कुछ जीव के योग एवं कषाय की मात्रा पर भी निर्भर है।

**कर्मों से मुक्ति :**

कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित अब अन्तिम प्रश्न और बच रहता है, वह है—इस विशाल कर्म बंधन की परम्परा से सर्वथा छुटकारा कैसे सम्भव है ? जैन दर्शन का परमतत्व, जीवन का अन्तिम एवं उत्कृष्ट लक्ष्य आदि सब कुछ उक्त प्रश्न के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जीव के साथ कर्मों के बन्धन में दो क्रियाएं होती हैं—कर्मों का आना (आश्रव) और बंध जाना (बन्ध)। अतः उसके छुटकारा में भी दो ही क्रियाएं अपेक्षित हैं—कर्मों के आगमन को रोक देना और आये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए कर्मों को जीव से अलग कर देना। प्रथम क्रिया को संवर कहा गया है, दूसरी को निर्जरा। इन दोनों क्रियाओं के सम्पन्न होते ही जो स्थिति जीव की होती है वही मुक्ति की अवस्था है।

कर्मों से जीव की मुक्ति के लिए जैन-परम्परा में जो प्रयत्न किये जाते हैं उसी का नाम जैन-धर्म है। वह धर्म दो भागों में विभाजित है। प्रथम आचार मूलक धर्म, जिसकी आधार भूत भित्ति अंहिसा है। और जिसका पालन करके गृहस्थ श्रावक-श्राविकाएं नवीन कर्मों को रोकने का प्रयत्न करते हैं। संवर की साधना करते हैं। दूसरा है, चारित्र मूलक धर्म। जिसकी आधारभूत भित्ति संयम और तप है। और जिसका साधु-वर्ग पालन करके पूर्व संचित कर्मों को सर्वथा जीव से पृथक कर देने का प्रयत्न करता है। निर्जरा की साधना करता है। इस साधना की चरम सीमा ही मोक्ष है। जीवन के सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति।

**उत्तरदायित्व एवं शक्ति का समन्वय :**

उपर्युक्त कर्म-सिद्धान्त के विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक पक्ष को कितने वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म ढंग से कर्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा उजागर किया है। मानव यदि अपने मन वचन काय की क्रियाओं में सन्तुलन एवं क्रोध, मान, आदि मनोभावों पर नियन्त्रण करलें तो उसके जीवन को शांत और सुखमय होने में देर नहीं लगेगी। कर्म सिद्धान्त की जानकारी हो जाने पर मनुष्य के ऊपर जहां उसके हर अच्छे-बुरे कार्य का उत्तर दायित्व आता है, वहां उसमें अपने ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी परिस्थियों को बदल डालने की शक्ति भी जागृत होती है उत्तरदायित्व एवं निर्माण शक्ति का यह सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन दर्शन में प्रतिपाद्य कर्म-सिद्धान्त का उद्देश्य है।

[प्रस्तुत निबन्ध में निम्न पुस्तकें सन्दर्भग्रन्थ हैं। विस्तृत जानकारी के लिये उनका अवलोकन अपेक्षित है]

१. जैन धर्म—पं० कैलाशचन्द शास्त्री पृ० १४०–१५६

२. भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का योगदान डा० हीरालाल जैन पृ० २२२–२४०

३. जैन शासन–सुमेरचन्द दिवाकर पृ० १९५–२३०

४. जैन दर्शन–डा० मोहनलाल मेहता, पृ० ३४५–५७

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org